स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासुयः

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्माको आनन्द प्रदायक । सब धर्मोंका श्रेष्ठ रीतिसे पालन करते जीव निरन्तर ।
भक्ति अधोक्षजकी अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंधनकर ॥

वर्ष १७ | गौराब्द ४८५, मास—हृषीकेश ११, वार—प्रद्युम्न, मंगलवार ३१, श्रावण, सम्वत् २०२८, १७ अगस्त १९७१ | संख्या ३

अगस्त १९७१

श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तोत्राणि

श्रीसुरभिकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रम्

(श्रीमद्भागवत १०।२७।१९-२१)

इन्द्रसे भगवानने जब इस प्रकार कहा, तब प्रशान्त चित्तवाली श्रीसुरभि अपने सन्तान गो-समूहके साथ गोपरूपी ईश्वर कृष्णको सम्बोधन कर उन्हें प्रणाम करती हुई इस प्रकार कहने लगीं—

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥ १९ ॥

हे अचिन्त्य एवं अनन्तशक्तिसम्पन्न प्रभो! हे विश्वके कारण! हे विश्वके अन्तर्यामी! हे अच्युत श्रीकृष्ण! हे जगतके एकमात्र स्वामी! हम सभी गौएँ तुम्हारे द्वारा पालित हो रही हैं ॥१९॥

त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥ २० ॥

हे जगत्पते ! आप हमारे परम देवता हैं; आप साधु जन, गो, ब्राह्मण एवं मंगलके लिए इन्द्रस्वरूप होते हैं ॥ २० ॥

इन्द्रं नस्त्वाभियेक्ष्यामो ब्रह्मणा चोदिता वयम् ।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये ॥२१॥

हे विश्वात्मन् ! आप पृथिवीके भारविनाश करनेके लिए अवतीर्ण हुए हैं। ब्रह्माद्वारा प्रेरित होकर हम लोग अपने प्रभुरूपी आपका अभिषेक-कार्य सम्पादन करेंगे ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीसुरभिकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रं समाप्तम् ॥
॥ इति श्रीसुरभिकृत श्रीकृष्णस्तोत्र समाप्त ॥

शुद्धा और विद्धा भक्ति

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते ।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः ॥
वांछाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥

कोई भी बात कहनेके पहले, जो व्यक्ति कुछ कहनेके इच्छुक हैं, उनका परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इसके पहले मेरे पूर्ववर्त्ती वक्ताका परिचय दूसरे एक महोदयने दिया है। मेरा परिचय मैं स्वयं ही दे रहा हूँ। हमारे गुरुदेव श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी प्रभुने कहा है—

"जगाइ-माधाइ हैते मुइ से पापिष्ठ ।
पुरीषेर कीट हैते मुइ से लघिष्ठ ॥
मोर नाम शुने जेइ, तार पुण्यक्षय ।
मोर नाम लय जेइ, तार पाप हय ॥
एमन निर्घृण्य मोरे केवा कृपा करे ।
एक नित्यानन्द बिना जगत् भितरे ॥"

श्रीगुरुदेवकी इस भाषाकी अपेक्षा उत्कृष्ट भाषामें मैं अपना और अधिक परिचय प्रदान नहीं कर सकता। मैं अपने उस प्रभुका दास्याभिलाषी एक क्षुद्र जीव हूँ। किन्तु क्या इस परिचयसे परिचित व्यक्तिके निकटसे कोई व्यक्ति कुछ भी बात सुननेकी इच्छा रखते हैं ? अयोग्य एवं अधम व्यक्तिके संगप्रभावसे तो अयोग्यता और अधमता ही प्राप्त हो सकती हैं।

हम लोग क्षुद्र मनुष्य हैं—विभिन्न चश्मायुक्त (भावनायुक्त) चक्षु और विचार द्वारा श्रीचैतन्यदेवका दर्शन करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं। किन्तु श्रीचैतन्यदेवका वास्तव स्वरूप हम लोग देख नहीं पाते। अनेक प्रकार की अयोग्यता होने पर भी एक महान् आशा के लिए स्थान है। जो पुरुष "पुरीषेर कीट हैते मुइ से लघिष्ठ" कहकर भी जीवन-मरणमें

चैतन्य-चिन्ता, चैतन्य-ज्ञान, चैतन्य-ध्यान छोड़कर मुहूर्त्तमात्रके लिए भी अन्य कार्यमें व्यस्त नहीं हैं, श्रीचैतन्य-कथामृतको छोड़कर जो दूसरोंको और कुछ भी पान नहीं कराते उन महात्माकी सेव्य-वस्तु कितनी बड़ी है, कितनी मधुर है, कितना उदार है! ऐसे लोभविशिष्ट व्यक्ति ही श्रीकविराज गोस्वामी एवं उनकी सेव्य वस्तुको देखनेकी इच्छा करते हैं।

हम लोग 'वैष्णवोंके दास हैं' कहकर परिचय देते समय हमारे भीतर जो अहंकार उदित होता है, उससे भी परित्राण पाना आवश्यक है। किसी वैष्णवप्रवरने गाया है—

"आमि त वैष्णव, ए बुद्धि हइले,
अमानी ना हब आमि।
प्रतिष्ठाशा आसि, हृदय दूषिबे,
हइब निरय-गामी ॥"

जिनके हृदयमें 'मैं वैष्णव हूँ'—ऐसा विचार है, वे लोग 'वैष्णव' नहीं हैं। वे लोग श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीकी पादपद्म-शोभा दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं होते।

कोई-कोई व्यक्ति दुर्दैव-अपराधके कारण यह विचार करते हैं—"जब गुरुदेवने कहा है, 'मैं अत्यन्त अधम, अत्यन्त पतित, अत्यन्त पामर, अत्यन्त नीचजाति, अधम चण्डाल हूँ,' तब उनके सत्यवाक्यमें दृढ़ विश्वास कर मैं भी उन्हें 'अधम चण्डाल', 'पामर', 'नीच जाति' समझूँगा या कहूँगा।" इस प्रकारका अक्षज-विचार अधिकांश व्यक्तियोंके हृदयोंमें थोड़े बहुत परिमाणमें अधिकार किये हुए है। वे लोग वैष्णव एवं गुरुवर्गके स्वरूपदर्शनसे वंचित होकर महारौरव नरककी ओर चले जा रहे हैं।

श्रुतियोंमें कहा गया है—

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।२३)

जो व्यक्ति श्रीभगवान् एवं गुरुदेवमें अचल श्रद्धा-विशिष्ट हैं, उनके हृदयमें ही परमार्थ विषयक सत्य वाक्य प्रकाशित होते हैं। गुरुदेवमें श्रद्धा-युक्त व्यक्तिको ही वे अर्थ प्रदान करते हैं, श्रद्धाहीन व्यक्तिकी वंचना करते हैं। क्योंकि तत्तत् अधिकारी व्यक्तिके लिए उस-उस विषयमें योग्यता है। श्रीमद्-भागवतका कहना है कि अधोक्षज-सेवाको छोड़कर जीवोंकी मंगल-प्राप्तिका और कोई उपाय नहीं है। "परम सेव्य-वस्तुकी सेवा मेरे गुरुदेवको छोड़कर और कोई भी कर नहीं सकते"—ऐसी उपलब्धिका जहाँ अभाव है, वहींपर मानव-ज्ञान दूसरे प्रकारका है। जो व्यक्ति अन्य कथामें प्रमत्त हैं, उनके मंगलकी संभावना कहाँ है?

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

"स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति।"

श्रीभगवान् अधोक्षज वस्तु हैं। उनकी सेवाको छोड़कर जीवोंका और कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है या नहीं हो सकता। "अधोक्षज वस्तुकी सेवा"—यह बात ही गलबली मचा देती है। यथार्थ गुरुके निकट यथार्थ रूपमें गमन न कर "मैंने गुरुके निकट दीक्षा ग्रहण की है"—इस प्रकारकी कपटतायुक्त अभिमान

द्वारा ही सभी तरहके अनर्थ उपस्थित हुए हैं। श्रीगुरुदेवके निकट दीक्षा—दिव्यज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् दूसरे विषयमें अभिनिवेश किस प्रकार रह सकता है ? आत्म-प्रशंसा करनेवाले व्यक्ति ठीक-ठीक गुरुके निकट न जाकर अर्थात् दिव्य ज्ञान या सम्बन्ध ज्ञान युक्त न होकर ही "गुरुके निकट दीक्षा प्राप्त की है"—इस प्रकारके निरर्थक वाक्य कहा करते हैं। हम लोग गुरुदेवको 'गुरु' न समझ कर कार्यतः हमारे शिष्य या शासन योग्य वस्तुमें परिणत करते हैं—उन्हें अपना भोग्य या अक्षज ज्ञानगम्य वस्तु समझकर गुरु-वैष्णव अपराधमें पतित होते हैं। 'अक्ष' कहनेसे 'इन्द्रिय' है, अतएव 'अक्षज' कहनेसे 'इन्द्रियज' जानना चाहिए। पाँच इन्द्रिय और मन—ये छः इन्द्रियाँ जब भगवान्‌की सेवा छोड़कर दूसरे कार्यमें नियुक्त होती हैं, तब ही हमारी शुद्ध भक्ति आवृत होती है। भोगोन्मुख इन्द्रियोंकी वृत्ति-द्वारा अधोक्षज भगवान् सेवित नहीं होते, उसके द्वारा इन्द्रिय-तर्पण ही हो सकता है। जिस प्रकार बालक क्रीड़ामें प्रमत्त रहनेके कारण कर्त्तव्य-विमूढ़ होता है, उसी प्रकार इन्द्रियज ज्ञान हमें असत्यके पथमें प्रेरण करता है। तब हम लोग 'हमने दीक्षा प्राप्त की है'—ऐसा सोचकर इन्द्रिय-तृप्तिके लिए व्यस्त होते हैं। तब द्यूत, पान, स्त्री, मत्स्य-माँस, प्रतिष्ठा एवं अर्थ-संग्रहकी स्पृहा हमारे नाकमें रस्सी बाँधकर चारों ओर घुमाती है। किसी भक्तने कहा है—

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा-
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुक्ष्वात्मदास्ये॥"

'षड् रिपुओंको 'प्रभु' सजाने जाकर ऐसा कार्य नहीं है, जो हमने नहीं किया हो। किन्तु इतने सुदीर्घकाल तक उनकी अकपट सेवा कर भी मैंने मनिब या मालिकका मन प्राप्त नहीं किया ! मुझे लज्जा भी नहीं हुई ! हे यदुपते, आज मेरी बुद्धिका उदय हुआ है। मैं रिपुओंको प्रभु कहकर और उनकी सेवा नहीं करूँगा। हे कृष्णचन्द्र ! मुझे अपने सेवकत्वमें ग्रहण करो। भगवानके सेवका-भिनयसे बाह्य जगतकी जो मैंने सेवा की थी, वह मैं और नहीं करूंगा।

जीव जब निष्कपट रूपसे श्रीभगवानके प्रति ऐसा आत्मनिवेदन ज्ञापन करते हैं, तब भगवान् महान्त गुरुके रूपमें आविर्भूत होते हैं। महान्त गुरुके निकट दिव्यज्ञान प्राप्त न करने पर कोई भी व्यक्ति अधोक्षज-सेवाधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। अधोक्षज सेवाके बिना आत्मप्रसाद-लाभ असंभव है। अक्षज वस्तुकी सेवामें मननेन्द्रियका तर्पण होता है, आत्म-प्रसाद प्राप्त नहीं होता।

उत्तम या महा-भागवत सभी भूतोंमें भगवद्भाव दर्शन करते हैं, किन्तु भूत-दर्शन नहीं करते। श्रीचैतन्यचरितामृतमें (मध्य, ८म प०) कहा गया है—

"स्थावर जंगम देखे, ना देखे तार मूर्त्ति।
सर्वत्र स्फूरये तांर इष्टदेव मूर्त्ति॥"

श्रीविष्णुके सुदर्शन-चक्रके अनुग्रहमें जो लोग वास करते हैं, कुदर्शन उन्हें आच्छादन नहीं कर सकता। वैष्णवोंका दास न होकर अवैष्णवको गुरु रूपसे ग्रहण करनेपर इन्द्रिय द्वारा हृषीकेश सेवा होनेके बदले हृषीककी ही सेवा होती है। उससे भक्ति बाधा प्राप्त होती है।

श्रीव्यासदेवने बहुतसे पुराण और महाभारतादि शास्त्रोंकी रचना की थी। तब एकदिन श्रीव्यासजीको मनोमालिन्य अवस्थामें देखकर श्रीनारदने उनसे ऐसी दशाका कारण पूछा। श्रीव्यासदेवने कहा—'मैंने कृष्णकथा आलोचना की है, तब भी मेरे हृदयमें प्रसन्नता क्यों नहीं मिली ?' वही प्रसंग श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णित है—

"भक्तियोगेने मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥
यया संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांसश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसां शोक-मोह-भयापहा॥"

अर्थात् भक्तियोगके प्रभावसे शुद्धीभूत मन सम्यक् रूपसे समाहित होनेपर श्रीव्यासदेवने कान्ति, अंश और स्वरूप शक्ति समन्वित श्रीकृष्णको और उनके पश्चात् भागमें लज्जित रूपसे अवस्थित मायाको देखा। उसी माया द्वारा जीवका स्वरूप आवृत एवं विक्षित होने के कारण वस्तुतः जीव सत्त्व, रजः और तम—इस त्रिगुणात्मक जड़से अतीत होकर भी अपनेको त्रिगुणात्मक वस्तु समझता है। ऐसे त्रिगुणात्मक कर्त्तृत्वाभिमानके कारण संसार रूपी व्यसन प्राप्त करता है। जड़ेन्द्रिय ज्ञानातीत विष्णुमें अहैतुकी भक्ति अनुष्ठित होनेसे ही संसार-भोग-दुःख निवृत्त होता है, यह भी उन्होंने दर्शन किया। इन सभी घटनाओंका दर्शन कर सर्वज्ञ वेदव्यासने इस विषयमें अनभिज्ञ व्यक्तियोंके मंगलके लिए श्रीमद्भागवत नामक 'पारमहंसी सात्वत-संहिता' रचना की—जिस पारमहंसी संहिता श्रीमद्भागवत श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेके साथ ही साथ पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके प्रति शोक-मोह-भयादि का विनाश करनेवाली भक्ति उदित होती है।

भजनशील, सेवाप्राप्त व्यक्तिमें शोक, मोह और भय नहीं है। जब 'अहं-मम' बुद्धिके कारण नामापराध करनेकी मत्तता एवं 'हरिनाम जैसे-तैसे ग्रहण करनेसे ही होगा'—ऐसा इन्द्रियतर्पणमूलक विचार उपस्थित हो, तब ही जीव शोक, मोह एव भयद्वारा आच्छन्न होता है। अपराध युक्त नामके द्वारा केवल त्रिवर्ग-प्राप्ति होती है। श्रीगुरुदेव के निकटसे जिन व्यक्तियोंने दिव्य ज्ञान प्राप्त नहीं किया, वे लोग ही 'नामापराध' को नाम समझनेका भ्रम करते हैं। 'देवदारु-पत्र'—यह नाम और 'देवदारुके पत्रके पत्रत्व' में मायिक भेद है, किन्तु भगवान इस प्रकारके इन्द्रियज ज्ञानद्वारा जानने योग्य मायिक वस्तु नहीं हैं। जो लोग श्रीनामके द्वारा ओला-वर्षा निवारण आदि सांसारिक मंगलादि करा लेनेके इच्छुक हैं, वे नामापराधी हैं। उनके मुखसे श्रीनामका उच्चारण नहीं होता। नामापराध दूर होने पर किसी समय नामाभास तक हो सकता है।

शास्त्रमें दस प्रकारके नामापराधोंका उल्लेख है। नामापराधी जो फल भोग करते हैं, आत्मा उसे कदापि ग्रहण नहीं करते। उसके द्वारा देह और मनकी तृप्ति होती है। इसलिए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—'ययात्मा सुप्रसीदति।' इसलिए नामापराध भगवन्नाम नहीं है। शुद्ध नामाश्रित व्यक्तिमें प्राकृताभिनिवेश या जड़ता नहीं है। 'लोकस्याजानतः'—श्रीमद्भागवत-प्रति-

पाद्य निरस्तकुहक सत्यकी बात मनुष्य जाति के व्यक्ति नहीं जानते ; मूर्ख व्यक्तियोंकी मूर्खता दूर करनेके लिए श्रीमद्भागवतका कीर्त्तन और सुपठन होता है।

भक्त भागवतके मुखद्वारा ग्रन्थ भागवत कीर्त्तित होने पर सत्संगके प्रभावसे जीवकी सम्पूर्ण कपटता और मनोधर्मका अन्त हो जाता है। भगवद्विमुख जगतमें नाना शास्त्र प्रचारित हैं। किन्तु श्रीमद्भागवत शास्त्र प्रचारका प्रयोजन यही है कि मनुष्य लोग प्रत्यक्षादि इन्द्रियज ज्ञान द्वारा चालित होकर जिस असुविधामें पड़े हैं, वह श्रीमद्भागवत की निष्कपट कृपाद्वारा दूर हो जाती है। विचारपरायण होकर श्रीमद्भागवत सम्यक् प्रकारसे पाठ करते करते कृष्णानुशीलन स्पृहा बढ़ती है। किन्तु यदि हम पुनः अर्थादि प्राप्तिका लोभ या प्रतिष्ठाशादि अन्याभिलाषसमूहका वरण कर कृष्णपादपद्मको विस्मृत हो जाय, तो हमें कोई सुविधा नहीं होगी, केवल नामापराध फलमात्र प्राप्त होगा।

कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, राजयोग आदि अभक्तियोग हैं, कदापि अप्रतिहता अहैतुकी मुकुन्दसेवा नहीं है। चौबीस घन्टेके भीतर चौबीस घन्टे ही कृष्णेन्द्रियतर्पणका छोड़कर जीवोंका और कोई कर्त्तव्य नहीं हो सकता। ऐसी उपलब्धि करने पर ही जीव, व्यासदेवकी तरह ज्योतिके मध्यमें श्यामसुन्दर पूर्णपुरुष कृष्णका दर्शन कर सकेंगे। पूर्णपुरुष कृष्णमें जिन्हें पूर्ण विश्वास है, वे स्वतन्त्र भावनासे अन्य देव-देवियोंकी पूजा नहीं करते। वे "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः"—भागवतका यह वचन जानते हैं। अपूर्ण वस्तुकी पूजा द्वारा अन्य अपूर्ण वस्तुओंके हृदयमें ईर्ष्या उपस्थित होती है। किन्तु कृष्णमें परिपूर्णता सर्वदा वर्त्तमान है। श्रीसंकर्षण-प्रद्युम्नादि या मूल-प्रकाश विग्रह बलदेवसे प्रकटित सभी स्वरूप मात्र ही कृष्णचन्द्रमें अवस्थित हैं। मायादेवी भी कृष्णमें ही अवस्थिता हैं, लज्जित भावसे कृष्णके पृष्ठदेशकी तरफ। असुरमोहन करनेके लिए भगवान् शाक्यसिंहका 'प्रकृतिमें निर्वाण' कहकर जो नास्तिक्यवाद-प्रचार हुआ है, या 'ईश्वरकृष्ण' का सांख्यकारिका लिखित 'प्रकृतिलय' आदि जो सभी बातें हैं। वे कुदार्शनिकके मतवादके अन्तर्गत हैं। माया या प्रकृतिद्वारा पूर्ण पुरुषत्वकी कोई हानि नहीं हो सकती। 'माया' कहने से पूर्णपुरुषको लक्ष्य नहीं किया जाता। पूर्णपुरुष कदापि जीवका संमोहन नहीं करते। माया अपनी विक्षेपात्मिका और आवरणरूपा दो वृत्तियोंद्वारा जीवका आच्छादन करती हैं। माया सर्वदा पूर्णपुरुषका प्रसाद प्रदान करनेके लिए प्रस्तुत हैं; किन्तु जो लोग निष्कपट रूपसे पूर्ण-पुरुषके प्रसादग्रहणमें अनिच्छुक हैं, उन्हें ही माया जकड़ती है।

कृष्णसेवा छोड़कर नित्य-कृष्णदास वैष्णवकी और कोई चेष्टा नहीं है। कृष्णविस्मृतिसे ही जीवमें देहात्माभिमान उदित होता है। जीव उस समय 'मैं नित्य कृष्णदास हूँ'—यह बात भूलकर स्थूल और लिंग देहमें मेरापनका आरोप कर मायाकी सेवा करनेके लिए दौड़ पड़ता है। स्वरूपतः वैष्णव होने पर भी अपनेको

अवैष्णव समझनेकी योग्यता उसमें है।

हृदयके सुप्त सिद्धभावको उन्मुख इंद्रिय-समूह द्वारा साधनबलसे प्रकट—परिस्फुट करना पड़ता है। जातरति व्यक्ति पाँच प्रकार रतिविशिष्ट होकर स्वारसिकी रति-द्वारा विषयविग्रह श्रीकृष्णकी सेवा किया करते हैं। धर्म, अर्थ, कामादि प्राप्तिके लिए ईश्वर आराधनाका जो अभिनय है, वह कृष्णसेवा नहीं है। धर्मकामी व्यक्ति सूर्यकी उपासना, अर्थकामी व्यक्ति गणेशकी उपासना, कामकामी व्यक्ति शक्तिकी उपासना एवं मोक्षकामी व्यक्ति शिवकी उपासना किया करते हैं। देवगणोंको रिश्वत देकर उनके द्वारा अपनी सेवा करा लेनेकी प्रवृत्तिसे ही पंचोपासना की उत्पत्ति हुई है। किन्तु श्रीकृष्णसेवा वैसी नहीं है। कृष्णसेवा—अप्राकृत श्रीकामदेवकी सेवा—शुद्ध चेतन की अस्मिता (अहंता या ममता) द्वारा श्रीश्यामसुन्दरके पादपद्मकी नित्या अहैतुकी अप्राकृत सेवा—अप्राकृत इंद्रिय एवं अप्राकृत मनका कार्य है। जड़ मनकी सभी क्रियाएँ बहिर्जगतके आश्रय से सम्पन्न होती हैं—

"दीक्षा-काले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइकाले कृष्ण तांरे करे आत्मसम॥
सेइ देह करे तांर चिदानन्दमय।
अप्राकृत-देहे कृष्णेर चरण भजय॥

आरोप या अन्तश्चिन्तित काल्पनिक मनोमय देहके द्वारा ईश्वर चेष्टाके अनुरूप तथाकथित कृष्णसेवाकी बात गोस्वामी लोगोंने कदापि नहीं कही। हम जिस आबहवा या वातावरणमें हैं, उसमें रहकर साधारण लोगोंको कृष्णसेवाकी बात समझायी नहीं जा सकती। अतएव अचिन्त्य-भेदाभेद विचारसे मनोवृत्तिकी क्रियाके आधारका परिवर्त्तन कर सिद्ध देहकी भूमिकामें नियोग करनेके अभिप्रायसे "मने निज सिद्ध-देह करिया भावन। रात्रिदिने चिन्ते राधाकृष्णेर चरण॥"—आदि वाक्य कहे गये हैं। इस जगतके स्थूल एवं लिङ्ग देहके द्वारा अप्राकृत वस्तुकी सेवा नहीं होती। जब हमारे अप्राकृत देहके द्वारा अप्राकृत कृष्ण वस्तुकी सेवा होती है तब बाहरी स्थूल देहमें केवल उसकी स्पन्दन-क्रिया ही लक्षित होती है।

"अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥"

—यह बात श्रीगौरसुन्दरने जिन श्रीरूप गोस्वामीप्रभुसे कही थी, उन श्रीरूप प्रभुके पश्चात्में अनुगमन नहीं करनेके कारण हमारे दुर्भाग्यकी जो पराकाष्ठा हुई है, उसे हम लोग भलीभाँति उपलब्धि कर पा रहे हैं। सम्बन्ध-ज्ञानविशिष्ट अप्राकृत देहके द्वारा जब हम लोग श्रीकृष्ण सेवा करनेके लिए लालायित होते हैं, तब हमारे बाहरी देहमें भी मायाकी पूजा न कर सर्वदा वैकुण्ठ नामग्रहण करनेकी उत्कण्ठा प्रकटित होती है। उस समय—

"वनलतास्तरव आत्मनि वि
व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म॥"
(भा० १०। ३५। ९)

अर्थात् पुष्पफलोंसे परिपूर्ण वनलताएँ, पेड़-पौधे, भारसे झुकी हुई कृष्ण-प्रेमोत्फुल्लतनु वनस्पतियाँ आदि आत्मगत श्रीकृष्णको प्रकट कर मधुधारा वर्षण कर रही थीं।

महाभागवत लोग ऐसा सोचते हैं कि सभी ही विष्णुकी उपासनामें मत्त हैं, केवल मैं ही विष्णु-विमुख हूँ, मैं प्राणप्रभुकी सेवा नहीं कर सका। श्रीगौरसुन्दरने स्वयं कहा था—

"न प्रेमगन्धोऽस्ति दरापि मे हरौ
क्रन्दामि सौभाग्यभरं प्रकाशितुम्।
वंशीविलास्यानमलोकनं विना
बिभर्मि यत्प्राणपतङ्गकान् वृथा॥"
(चै० च० म० २ य प०)

अर्थात् हाय! कृष्णमें मेरा लेशमात्र भी प्रेमगन्ध नहीं है। तब जो मैं क्रन्दन करता हूँ, वह केवल अपना सौभाग्यातिशय प्रकाश करनेके लिए ही है। वंशीवदन श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीमुख-दर्शन बिना मेरा प्राणपतङ्गधारण करना वृथा है।

"प्रेमेर स्वभाव जाँहा प्रेमेर सम्बन्ध।
सेइ माने,—'कृष्णे मोर नाहि भक्तिगन्ध॥"

श्रीवल्लभाचार्य जब श्रीमन्महाप्रभुजीको आड़ाइल ग्राममें ले जा रहे थे, तब श्रीवल्लभ-भट्टकी विचार-प्रणाली देखकर महाप्रभुजीने अपना भाव-संवरण किया। दूसरे एक दिन राय-रामानन्दके मिलन समयमें महाप्रभुने अपना भाव संवरण किया था। "आपन भजन-कथा ना कहिबे यथा-तथा"—यही आचार्य लोगोंका आदेश एवं उपदेश है।

अत्यन्त गुह्यादपि गुह्य राधाकृष्णके रसगानकी पदावली यदि हम जैसे लम्पट व्यक्ति अविचारपूर्वक स्वेच्छासे जहाँ-तहाँ और जिस-किसी व्यक्तिके पास गान या वर्णन करें, तो उसके द्वारा क्या जगज्जञ्जाल उपस्थित नहीं होता? बाहरी जगतकी प्रतीति प्रबल रहते समय हम लोग जो भक्ति-याजन करनेका अभिमान करते हैं, वह निरर्थक है। मुझे क्या लेशमात्र भी भगवान्‌के प्रति अनुराग हुआ है? —एकबार निष्कपट होकर अन्तरात्मासे पूछने पर जाना जा सकता है।

इसके द्वारा यह नहीं कहना है कि भजनकी क्रिया छोड़ दी जाय। तात्पर्य यही है कि अधिकारके अनुरूप क्रमपथानुसार अग्रसर होना चाहिए। इसलिए श्री भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है—

"आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥"

सद्गुरुके श्रीचरणाश्रय बिना हमारी भजनक्रिया या अनर्थनिवृत्ति नहीं हो सकती। अनर्थनिवृत्ति नहीं होनेपर श्रीकृष्णसेवामें नैरन्तर्य और रुचि नहीं हो सकती। जिस दिन हम लोग सेवक-विग्रह श्रीगुरुदेवको चैतन्यदेवके साथ अभिन्न भावसे उपलब्धि कर सकेंगे, उसी दिन ही हमें श्रीगौर-

सुन्दरकी सेवा प्राप्त होगी। उसी दिन हम हमारी विभिन्न सिद्ध स्थायी आत्मरति-में श्रीराधा-गोविन्दकी निभृत सेवा करते रहेंगे। उस समय ब्रह्मानुसन्धान तक हमारे निकट नितान्त अकिञ्चितकर और अप्रयोजनीय जान पड़ेगा। महान्त गुरुदेव-को जब साक्षात् श्रीकृष्णचैतन्यदेवके निज जनके रूपमें उपलब्धि होगी, तब ही श्रीराधागोविन्दकी लीला-कथा हमारे शुद्ध निर्मल हृदयमें स्फूर्त्ति प्राप्त होगी। तब श्रीवृषभानुनन्दिनीकी चम्पकाभा-शोभा द्वारा उद्भासित, श्रीमतीकी उत्घूर्णा-चित्रजल्पादि चेष्टा द्वारा प्रफुल्लित श्रीगौरसुन्दरके श्रीरूप-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होगा।

प्रेमदाता श्रीगौरसुन्दरके परिकरमें गणित होने पर जीवके लिए प्रेमदानलीला को छोड़कर और कोई कार्य नहीं रहता। तब श्रीगौरसुन्दरकी "पृथिवीते आछे जत नगरादि ग्राम। सर्वत्र प्रचार हइबे मोर नाम॥" —इस वाणीका स्मरण कर श्री नित्यानन्द एवं श्रीहरिदासके प्रति श्रीगौर-सुन्दरने जो आज्ञा दी थी, उसीके वाहकके रूपमें कार्य करते रहेंगे। तब सभी जीवों-के द्वार-द्वारपर जाकर कहेंगे—

"भज कृष्ण, कह कृष्ण, लह कृष्णनाम।
कृष्ण पिता, कृष्ण माता, कृष्ण धन-प्राण॥"

उस समय हम लोग श्रीचैतन्यचन्द्रा-मृतके इस वचनका अनुसरण करते हुए भिक्षा करेंगे—

"दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य
कृत्वा च काकुशतमेतदहं ब्रवीमि।
हे साधवः सकलमेव विहाय दूरात्
चैतन्यचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम्॥"

अर्थात् हे साधकों! दाँतों तले तृण दबाकर, पैरोंमें बारम्बार गिरकर, सैकड़ों दैन्योक्ति करते हुए आप लोगोंसे मेरी यही प्रार्थना है कि समस्त प्रकारके साधनों का दूरसे ही परित्याग कर श्रीचैतन्य-चन्द्रके चरणोंमें अनुराग करें।

— जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

(जीवोंके प्रति दया)

१--सर्वश्रेष्ठ परोपकार क्या है ?

"सर्वभूतोंके प्रति दया तीन प्रकारकी है--(क) जीवोंके स्थूल देह-सम्बन्धसे जो दया देखी जाती है, वह सत्कर्ममें परिगणित है। भूखे प्राणियोंको भोजन-दान, पीड़ितोंको औषध-प्रदान, प्यासे व्यक्तियों या प्राणियोंको जल-दान, शीत-पीड़ित व्यक्तियोंको आच्छादन योग्य वस्त्र-प्रदान —ये सभी ही देह-सम्बन्धिनी दयासे सम्बन्ध रखते हैं। (ख) विद्या-दान ही जीवकी मनः सम्बन्धी दयासे उत्पन्न है। (ग) किन्तु जीवोंकी आत्मा-सम्बन्धिनी दया सर्वोपरि है। उसी दया-प्रवृत्तिसे ही जीवोंको कृष्णभक्ति प्रदान कर संसार क्लेशसे उद्धार करनेका यत्न होता है।"

--'परहिंसा और दया' स० तो० ६।६

२– 'जीवोंके प्रति दया' यह कथन किसके प्रति प्रयुक्त होगा ?

"जीवोंके प्रति दया—यह बात केवल बद्ध जीवके सम्बन्धमें ही है, यह जानना चाहिए। बद्धजीवोंमें भी जिन लोगोंने कृष्ण-सान्मुख्य प्राप्त किया है, उनके प्रति दया नहीं, बल्कि मैत्री व्यवहार करनेका उपदेश है। अतएव बद्धजीवोंमें जो व्यक्ति बालिश मूढ़) हैं, उनके प्रति ही दया करनी पड़ती है।"

--'जीवोंके प्रति दया', स० तो० ४।८

२–कर्मी, ज्ञानी और शुद्ध भक्त लोगों की परोपकारितामें क्या तारतम्य है ?

"कर्मकाण्डी व्यक्ति लोग जीवोंका नित्यमंगल उतना नहीं अन्वेषण करते, जितना कि वे लोग केवल देह-सम्बन्धिनी और मनः सम्बन्धिनी दयाको ही अतिशय शुभ समझते हैं। ज्ञानकाण्डी व्यक्ति लोग मनः सम्बन्धिनी दयाका ही अधिक आदर करते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त लोग भक्ति-प्रचार द्वारा जीवोंके नित्यमंगल साधन करनेका प्रयत्न करते हैं।"

४--वैष्णवोंके लिए जीवोंके प्रति दया का एक मात्र परिचय क्या है ?

"जीवोंका भाग्योदय न होनेसे कृष्णोन्मुखी प्रवृत्तिका उदय नहीं होता। उस कार्यमें जीवोंकी सहायता करना ही जीवोंके प्रति वैष्णवोंके हृदयगत दयाका एकमात्र परिचय है।"

— जीवों के प्रति दया' स० तो० ४।८

५ वैष्णव लोग जीवोंके प्रति किस प्रकारकी दया करते हैं ?

"जीवोंको कृष्णोन्मुख करना ही वैष्णवोंका प्रधान कर्त्तव्य है। जिसस्थलमें केवल स्थूल शरीरको रोग-निवृत्ति या भूख-प्यास निवारण ही प्रधान उद्देश्य है, वहाँ वैष्णवता लेशमात्र भी नहीं है। क्योंकि उसके द्वारा केवल क्षणिक उपकार होता

है। किन्तु नित्य उपकार नहीं होता। तब जहाँ इन सभी कार्यों द्वारा कृष्णोन्मुखी प्रवृत्तिमें सहायता की जा सकती है, वहाँ उन सब कार्योंमें भी वैष्णवोंकी स्वतः प्रवृत्ति होती है।"

—'जीवों के प्रति दया', स० तो० ४।८

६—आदर्श आचार और प्रचार किस प्रकार होना उचित है ?

"तुम लोगोंका साधु-चरित्र दूसरोंको सिखाओ। तुम अच्छा कार्य कर रहे हो, उत्तम बात है। किन्तु जगज्जीव तुम्हारे भ्राता स्वरूप हैं। वे असत् कार्य द्वारा पतित हो रहे हैं। तुम्हारा यही कर्त्तव्य है कि तुम्हारे साधु-चरित्रको दिखलाकर उन्हें तुम्हारे चरित्रके अनुरूप बनानेका प्रयास करो।"

—'साधु-शिक्षा', स० तो ५।१०

७—किस प्रकारके विषयी लोग वैष्णवों के कृपा-पात्र हैं ?

"निष्कपट विषयी लोगोंके प्रति कृपा करना उचित है।"

—'भक्त्यानुकूल्यविचार' भा० म० १५।१२६

८—वैष्णव लोग किस प्रकारके प्रचार द्वारा सुखी होते हैं ?

"द्वार-द्वारपर इस प्रकार शिक्षा देते-देते यदि एक जीव भी एक वर्षमें उद्धार पाकर कृष्ण भजन करे, तब वैष्णव लोग अपने कार्यमें विशेष सुख प्राप्त करते हैं।"

—'जीवोंके प्रति दया', स० तो० ४।८

९—जीव-दया और कृष्णभक्तिकी सत्तामें क्या कोई भेद है ?

"दया कदापि रागसे भिन्न-वृत्ति नहीं हो सकती—जीव-दया और कृष्णभक्तिकी सत्तामें भिन्नता नहीं है।"

—कृ० स० ८।१८

१०—वैष्णवोंकी दया किस प्रकारकी है ? वह सर्वोत्तम क्यों है ?

"वैकुण्ठावस्थामें केवल मैत्री एवं बद्धावस्थामें पात्र-विशेषके प्रति मैत्री, कृपा और उपेक्षारूप जो सभी भाव हैं, वे नित्य धर्मगत दयाके भिन्न भिन्न परिचय मात्र हैं। सांसारिक जीव-सम्बन्धी दया ही अत्यन्त कुण्ठित अवस्थामें जीवके स्वदेह-निष्ठ है। थोड़ी और प्रस्फुटित होनेपर स्व-गृहवासी-निष्ठ है। और भी प्रस्फुटित होने पर स्व-वर्णनिष्ठ है। कुछ अधिक परिमाण ने प्रस्फुटित होनेपर स्वदेशवासी स्वजाति-निष्ठ है। इससे अधिक प्रस्फुटित होनेपर स्वदेशवासी सर्वजननिष्ठ है। इससे भी अधिकतर परिमाणमें प्रस्फुटित होनेपर सर्वमानवनिष्ठ है। सम्पूर्ण एवं अधिकतम परिमाणमें प्रस्फुटित होनेपर सर्वजीवनिष्ठ आर्द्र भाव-विशेष रूपसे परिचित है। अँग्रेजी भाषामें जिसे Patriotism कहते हैं, वह स्वदेशवासी स्वजातिनिष्ठ भावविशेष है एवं जिसे Philanthropy कहते हैं, वह सर्वमानवनिष्ठ भावविशेष है। वैष्णव लोग इन सभी भाव-समूहोंमें बद्ध नहीं रह सकते हैं। उन लोगोंके लिए समस्त भूतोद्वेगराहित्य-रूपा सर्वजीवोंके प्रति परम आर्द्रता-स्वरूपा दया ही एकमात्र वरणीय भाव है।"

—चै० शि० ३।३

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

सन्दर्भ-सार

(भक्तिसन्दर्भ—१४)

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(भा० १० । १४ । ४)

भक्तिके बिना ज्ञानकी सिद्धि नहीं होती—यह दिखलानेके लिए इस श्लोककी यहाँ अवतारणा की गई है । 'श्रेयःसृति' शब्दके द्वारा श्रेयःसमूह अर्थात् अभ्युदय और अपवर्ग; उनकी सृति या गति जिसकी है, वह भक्तिमार्ग ही भोग और मोक्षकी चरम गति है । जिस प्रकार एक महान् सरोवर बहुतसे झरने या जलप्रवाह समूहका चरम आश्रय है, उसी प्रकार भक्तिमार्ग ही समस्त प्रकारके कार्योंका या साधनोंका आश्रयस्वरूप है। अथवा मगलसमूहके पथस्वरूप तुम्हारी भक्तिका परित्याग कर जो लोग ज्ञानके लिए प्रयास करते हैं, उन्हें अन्त तक क्लेश ही प्राप्त होता है । जो व्यक्ति अन्तःकणा युक्त थोड़ेसे परिमाणमें वर्त्तमान धान्यका परित्याग कर स्थूल धान्यके रूपमें दीखनेवाले भूसोंको कूटते हैं, वे लोग कोई फल (चॉवल) प्राप्त नहीं कर सकते । इसी तरह भक्तिको तुच्छ मानकर केवल ज्ञानके लिए प्रयास करनेपर केवल दुःख ही प्राप्त होता है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञानका स्वरूप कहा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंपदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥
(गीता० १३ । ७—११)

अमानित्व—श्रेष्ठता रहनेपर भी आत्म-प्रशंसाराहित्य, अदंभित्व—दम्भका अभाव, पूजादि स्वधर्मलाभकी चेष्टा नहीं करना, अहिंसा—प्राणीपीड़ाका अभाव,क्षान्ति—क्षमा, आर्जव—सरलता, आचार्योपासना—गुरुसेवा, शौच—शरीर और मनकी पवित्रता, स्थैर्य—साधन पथमें स्थिरता, आत्मविनिग्रह—शरीर एवं मनको असत् पथमें जानेसे रोकना, इन्द्रियार्थमें वैराग्य—चक्षु-कर्ण-नासा-जिह्वा त्वक-इन्द्रिय-भोग्य विषयसे मनको दूर रखना अर्थात् इन्द्रिय भोग्य विषयोंसे विरक्ति, अनहंकार—अभिमानशून्यता, जन्म-मृत्यु-जरा और व्याधिरूप दुःखमें पुनः पुनः दोष-दर्शन, विषयोंमें अनासक्ति, स्त्रीपुत्रगृहादिमें ममता का अभाव, शुभाशुभ प्राप्तिमें चित्तका समभाव, भगवानमें अनन्य भक्ति, निर्जनवास—प्राकृत जनसङ्गत्याग, आत्मतत्त्वकी नित्य आलोचना एवं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन अर्थात् तत्त्वविषयक आलोचना—ये सभी ज्ञानके अन्तर्गत हैं । इसको छोड़कर इसके विपरीतमें जो कुछ है, वह सब ही अज्ञान है ।

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।

विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्त्ति सिन्धुम् ॥
(भा० ६।९।२०)

'अविस्मित' शब्द द्वारा भगवानको छोड़कर अन्य किसी अभिनव वस्तुका अभाव होनेके कारण विस्मयरहित, अतएव वे स्वयं ही परिपूर्णकाम हैं, अन्य वस्तुकी प्राप्ति द्वारा पूर्णकाम नहीं हैं। सम अर्थात् उपाधिपरिच्छेदरहित परमेश्वरको त्यागकर जो व्यक्ति दूसरे देवताका शरणागत होता है, वह बालिश या मूर्ख है। क्योंकि वह कुत्तेकी पूँछ पकड़कर दुस्तर सागर पार होने की इच्छा करता है। जिस प्रकार कुत्तेके पूँछ को पकड़कर दुस्तर सागर पार नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार भगवानके पादपद्ममें शरणागतिके बिना दूसरे किसी देव-देवी या प्राणीका आश्रय ग्रहण कर दुस्तर भवसागर पार नहीं किया जा सकता। अतएव शास्त्रोंमें कहते हैं—

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यदेवमुपासते ।
स्वमातरं परित्यज्य श्वपचीं वंदते हि सः ॥
(स्कन्द पुराण)

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यदेवमुपासते ।
त्यक्त्वामृतं स मूढात्मा भुंक्ते हलाहलं विषम् ॥
(स्कन्द पुराण)

ये तु विष्णुं परित्यज्य मोहादन्यमुपासते ।
ते हेमराशिमुत्सृत्य पांशुराशिं जिघृक्षति ॥
(महाभारत)

न यत् प्रसादायुतभागलेशमन्ये
च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।
कर्त्तुं समेताः प्रभवन्ति
पुंसस्तमीश्वरं वै शरणं प्रपद्ये ॥
(भा० ८।२४।४९)

भगवान् वासुदेवका परित्याग कर जो व्यक्ति अन्य देवताकी उपासना करे, वह अपनी माताका त्यागकर चण्डालीकी बन्दना करता है।

भगवान् वासुदेवका परित्याग कर जो व्यक्ति अन्य देवताकी उपासना करे, वह अमृत त्याग कर हलाहल विष पान करता है। जो व्यक्ति मोहित होकर विष्णुका परित्याग कर अन्य देवकी उपासना करता है, वह सुवर्णराशि त्याग कर धूलिराशि ग्रहण करता है।

श्रीमत्स्यदेवके प्रति सत्यव्रतने कहा था—सभी देवता, पित्रादि गुरुवर्ग एवं समस्त राजा मिलकर जिस भगवान्के अनुग्रहके अयुत भागके एक भाग तुल्य भी अनुग्रह नहीं कर सकते, मैं उन भगवान्का शरण ग्रहण करता हूँ।

ब्रह्मा एवं शिवको वैष्णव ही जानना चाहिए। श्रीशिवजीके प्रति श्रीमार्कण्डेयजी ने कहा था—

वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात् कामाभिवर्षणात् ।
भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि ॥
(भा० १२।१०।३४)

कामके पूर्ण अभिवर्षण करनेवाले आपके निकट मैं एक ही वर प्रार्थना करता हूँ कि भगवान विष्णुके प्रति और भगवद्भक्त श्रेष्ठ आपके प्रति मेरी अविचलिता भक्ति हो।

वैष्णवप्राय होकर विष्णु और शिवमें समान बुद्धि करनेवाले व्यक्तिको भक्ति प्राप्त नहीं होती, बल्कि प्रत्यवाय ही होता है।

न लभेयुः पुनर्भक्तिं हरेरैकान्तिकी जड़ा ।
एकाग्रमनसश्चापि विष्णुसामान्यदर्शिनः ॥
यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥
(वैष्णव-तन्त्र)

जो सभी मूर्ख व्यक्ति विष्णुके साथ अन्य देवताकी समबुद्धि करते हैं, वे लोग एकाग्रचित्त होने पर भी हरिके प्रति ऐकान्तिकी भक्ति प्राप्त नहीं कर सकते ।

जो व्यक्ति नारायणको ब्रह्मा-शिवादिके समान समझता है, वह निश्चय ही पाषण्डी है। तब जिस-जिस स्थानमें अभेद दर्शन सूचक वाक्य देखे जाते हैं, वे विष्णुके निरपेक्ष उपासक ज्ञानीके लिए हैं। इसलिए मार्कण्डेय से शिवजीने कहा था—

ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः ।
एकान्तभक्ता अस्माकं निर्वैराः समदर्शिनः ॥
सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते ।
अहं च भगवान् ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः ॥
न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते ।
आत्मनश्च जनस्यापि तद् युष्मान् वयमीमहि ॥
(भा० १२।१०।२०-२२)

ब्राह्मण लोग साधु, शान्त, निःसङ्ग और भूतवत्सल एवं हमारे प्रति एकान्त भक्तियुक्त, शत्रुतारहित एवं समदर्शी हैं। लोकसहित सभी लोकपाल, मैं, ब्रह्मा, स्वयं ईश्वर श्रीहरि भी उनकी (ब्राह्मणोंकी) वन्दना, अर्चना और उपासना करते हैं। वे लोग मुझमें, अजमें(ब्रह्मामें)एवं अच्युतमें (श्रीहरिमें) अणुमात्र भेद और अपने सहित दूसरोंका भेद नहीं देखते। ऐसा होने पर भी तदपेक्षा श्रेष्ठ जानकर आप लोग जैसे शुद्ध वैष्णवोंका हम लोग भजन करते हैं अर्थात् प्रिय समझते हैं।

ब्रह्मपुराणमें शिवजीने कहा है—

यो हि मां द्रष्टुमिच्छेत ब्रह्माणं वा पितामहम् ।
द्रष्टव्यस्तेन भगवान् वासुदेवः प्रतापवान् ॥

जो व्यक्ति मुझे (शिवको) या पितामह ब्रह्माको देखनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें सर्वशक्तिमान भगवान् वासुदेवका दर्शन करना ही उचित है, क्योंकि परब्रह्म स्वरूप वासुदेवका विज्ञान प्राप्त होने पर ही सभी वस्तुओंका विज्ञान प्राप्त होता है। अतएव शिवको वैष्णव जानकर सम्मान करना ही उचित है।

किसी कारणसे शिव पूजाकी आवश्यकता होने पर वैष्णव लोग शिवमूर्तिमें श्रीहरिकी ही उपासना करते हैं। इस सम्बन्धमें विष्णु धर्मोत्तरमें एक इतिहासका वर्णन है—विष्वक्सेन नामक एक परम भागवत पृथिवी भ्रमण कर रहे थे। एक दिन वे किसी वनके समीप पहुँचे। वहाँ ग्रामाध्यक्षका पुत्र आया। उस ब्राह्मणको उसने कहा कि उसके सिरमें दर्द हो रहा है, अतएव वह अपने इष्टदेवकी पूजा करनेमें असमर्थ होनेके कारण वह ब्राह्मण ही उसके प्रतिनिधिके स्वरूपमें शिवकी पूजा करे। ब्राह्मणने कहा कि श्रीहरि ही उनके पूज्य हैं, अतएव वे दूसरे देवताकी पूजा नहीं कर सकते। तब ग्रामाध्यक्षके पुत्रने खड्गसे उस ब्राह्मणको मारना चाहा। ब्राह्मणने मन ही मन विचार कर कहा कि वे जानेके लिए तैयार हैं। वहां जाकर उन्होंने

विचार किया कि रुद्रदेव तमोगुणके मूर्त्ति हैं। तामस दैत्यसंहारक श्रीनृसिंहदेव तमोभञ्जन करनेवाले होनेके कारण अपना भजन प्रदर्शन करनेके लिए तमोराशि नाश कर उदित होंगे। अतएव वे 'श्रीनृसिंहाय नमः' कहकर पुष्पाञ्जलि देनेके लिए उद्यत हुए। यह देखकर उन्हें मारनेके लिए ग्रामाध्यक्ष पुत्रने खड्ग उठाया। तब श्रीनृसिंहदेवजी लिङ्ग को विदीर्ण कर प्रकट हुए। उन्होंने ग्रामाध्यक्ष पुत्रका विनाश किया। अभी भी दक्षिण भारत में 'लिङ्गस्फोट' नृसिंहविग्रह रूपसे स्वयं आज तक वर्त्तमान हैं। अतएव विष्णुके अनन्य भक्त लोग शिवको वैष्णव जानकर उनका सम्मान करते हैं। और कोई भक्त शिवको विष्णुका अधिष्ठान जानकर सम्मान करते हैं। अतएव आदि बराहपुराणमें कहा गया है कि सहस्र जन्म शिवकी आराधनासे पापक्षय होने पर 'वैष्णवता' पायी जा सकती है। अतएव श्रीनृसिंह भक्ति एवं शिव भक्तिमें परस्पर महान् पार्थक्य वर्त्तमान है।

श्रीनृसिंह तापनीमें कहा गया है—

अनुपनीतशतमेकेनोपनीतेन तत् समम्। उपनीत शतमेकेन गृहस्थेन तत् समम्। गृहस्थ-शतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत् समम्। वान-प्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समम्। यतीनान्तु शतपूर्णमेकेन रुद्रजापकेन। रुद्रजापकशत-मेकमथर्वाङ्गीरसशाखाध्यापकेन तत् समम्। अथर्वाङ्गीरसशाखाध्यापकशतमेकमेकेन मंत्र-राजाध्यापकेन तत् समम्।

एक उपनीत व्यक्ति एक सौ अनुपनीत व्यक्तिके समान है, एक गृहस्थ व्यक्ति एक सौ उपनीत व्यक्तिके समान है, एक वानप्रस्थ एक सौ गृहस्थके समान है और एक सन्यासी एक सौ वानप्रस्थके समान है। एक रुद्र-मंत्र जापक एक सौ संन्यासीके समान है। एक अथर्वाङ्गीरस शाखाका अध्यापक एक सौ रुद्रमंत्र-जापकके समान है। एक मंत्रराज (श्रीनृसिंह-मन्त्र) अध्यापक एक सौ अथ-र्वाङ्गीरस शाखाध्यापकके समान है।

—त्रिदिण्डस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

श्रीमद्भागवतके टीकाकार (२)

श्रीमन्मध्वाचार्य

परिचय—

द्वैत-सम्प्रदायके आचार्य श्रीमन्मध्वाचार्य का परिचय श्रीनारायण पंडित कृत 'माध्वाचार्य-विजय' में वर्णित है। श्रीमन्मध्वाचार्य का आविर्भाव दक्षिण तुलुव देशके पाजकाक्षेत्रमें हुआ था (श्रीनारायण पंडितके अनुसार बेलिग्राममें हुआ था)। इनके पिताका नाम मधिजी भट्ट (मध्यगेह भट्ट या नारायण भट्ट) था। माताका नाम वेदवती था। इन दम्पतीने अपने दो पुत्रोंकी मृत्युके पश्चात् पुत्रेच्छासे नारायणकी उपासना की। फलस्वरूप एक बालकका जन्म हुआ। बालकका नाम 'वासुदेव' रखा गया। यही बालक आगे जाकर मध्वाचार्यके नामसे विख्यात हुए। ये बचपनसे ही बड़ी तीव्र बुद्धिके बालक थे। इनकी स्मृति शक्ति असाधारण थी। ग्राम पाठशालामें पढ़ते वक्त ये मल्लयुद्ध आदि क्रीड़ा करते थे और मल्लोंको परास्त किया करते थे। अतएव इनका नाम 'भीम' पड़ गया। वैष्णवाचार्योंके अनुसार मध्वाचार्यके रूपमें वैकुण्ठस्थ वायुदेव ही प्रकट हुए थे।

११ वर्षकी अवस्थामें वैराग्यकी तीव्र भावनासे प्रेरित होकर इन्होंने संन्यास ग्रहण किया। इनके दीक्षा गुरुका नाम अच्युतप्रेक्षाचार्य (शुद्धानन्द) था। संन्यासावस्थामें इनका नाम पूर्णप्रज्ञ हुआ। शास्त्रोंमें अपार पारङ्गतता देखकर इनका नाम आनन्दतीर्थ हुआ। साथ ही आनन्दज्ञान, आनन्दगिरि, ज्ञानानन्द नाम भी प्रसिद्ध हुए।

मध्वाचार्यने त्रिवेन्द्रम आदि स्थानोंमें शास्त्रार्थ किये। उडुपीमें बैठकर गीता तात्पर्यकी रचना की। वेदान्त सूत्रकी व्याख्या कर वे बदरिकाश्रम गए। वहाँ श्रीव्यासदेवके प्रत्यक्ष दर्शन करनेके पश्चात् उन्हें यह ग्रन्थ समर्पण किया। व्यासजीने इन्हें शालग्रामकी तीन मूर्त्तियाँ प्रदान कीं, जिन्हें आचार्यने सुब्रह्मण्य, उडुपी एवं मध्यतलमें प्रतिष्ठित की। चालुक्य साम्राज्यकी राजधानी कल्याणमें शोभन भट्टने दीक्षाग्रहण की। शोभनभट्ट अपने गुरुके पश्चात् मठाधीश हुए और उनका नाम पद्मनाभ तीर्थ हुआ। उडुपीमें श्रीकृष्ण मन्दिरके अतिरिक्त श्रीराम-सीता, द्विभुज कालिय दमन, चतुर्भुज कालिय दमन, विट्ठल आदि मूर्त्तियोंकी स्थापना की।

त्रिविक्रमाचार्यने मध्वाचार्यसे दीक्षा ग्रहण की एवं एक कृष्णमूर्ति उन्हें भेंट की जो अभी तक कोचीनमें विद्यमान है।

'सरिदन्तर' नामक स्थानमें मध्वाचार्यने अपनी इह लीलाका संवरण किया था।

सम्प्रदाय—

मध्वाचार्यने द्वैतवादका समर्थन किया। वे स्वयं द्वैतवादके प्रधानाचार्य एवं सम्प्रदाय प्रवर्त्तक हुए। इनके पश्चात् इनका सम्प्रदाय 'मध्व सम्प्रदाय' कहलाया। द्वैत सम्प्रदायके नामसे इसकी सर्वत्र ख्याति है। इन्होंने प्रकृति, जीव और ईश्वरमें नित्य भेद स्वीकार किया है।

स्थितिकाल—

सम्प्रदायके अनुसार इनका समय सम्वत् १०४० से १११९ पर्यन्त माना जाता है। भागवत दर्शनकार भाण्डारकरके अनुसार सम्वत १२५४ से १३३३ पर्यन्त तक समय लिखा है।

कृतियाँ—

मध्वाचार्यने अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन किया। उनमें कतिपय ग्रन्थोंके नाम उल्लेख-है— (१) गीता भाष्य (२) ब्रह्मसूत्र-भाष्य (३) अनुभाष्य (४) अनुव्याख्यान (५) श्रीमद्-विष्णुतत्त्व (६) दसों उपनिषदोंके भाष्य (७) यमक-भारत (८) भारत तात्पर्य-निर्णय (९) भागवत तात्पर्य-निर्णय (१०) श्रीकृष्णा-मृत-महार्णव (११) तन्त्रसार-सग्रह (१२) द्वादश स्तोत्र (१३) सदाचार-स्मृति (१४) श्रीकृष्ण स्तुति आदि।

वैशिष्ट्य—

मध्वाचार्यकृत भागवतकी टीकाका नाम है 'भागवत तात्पर्य-निर्णय'। इसमें समस्त भागवत पर व्याख्यान है। इसमें द्वैतमतकी पुष्टि की गई है। भागवतके श्लोकोंकी संख्या कहीं-कहीं देते हुए अपनी भाषामें उनका अर्थ किया है। कहीं मूल श्लोक भी दिये गये हैं।

'जन्माद्यस्य' श्लोककी व्याख्यामें श्रीव्यास देवका भगवान् रामसे पूर्व अस्तित्व सिद्ध करते हुए लिखा है—

'रामात्पूर्वमप्यस्ति व्यासावतारः तटोय युगमारभ्य व्यासो बहुषु जज्ञिवानिति कौर्मे।

अन्य टीकाकारोंने व्यासको द्वापरके अन्त में स्वीकार किया है। मध्वाचार्यजीने अनेक व्यासोंका अस्तित्व स्वीकार किया है। तात्पर्य निर्णयसे मूल भागवतके श्लोकोंकी टीकाका प्रयोजन पूर्णतः सिद्ध न होने पर भी उक्त टीकाके अनुशीलनसे सम्प्रदायको अन्य टीकाओंका ज्ञान समुचित रूपसे हो सकता है।

—डा० श्रीवासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी, एम. ए. पी. एच. डी.

विरह संवाद

त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिदेशिक आचार्य महाराज

गत ७ आषाढ़, २२ जून, १९७१, मंगलवार, अमावस्या तिथिमें (श्रील पण्डित गदाधर गोस्वामी एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुरकी तिरोभाव तिथिमें) सबेरे प्रायः ८-३० बजे जगद्-गुरु ॐ विष्णुपाद १०८ श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरके श्रीचरणाश्रित त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिदेशिक आचार्य महाराज ७० वर्षकी अवस्थामें, श्रीराधाकृष्णकी अष्ट सखियों में से अन्यतमा श्रीविशाखा सखीका आविर्भाव-स्थान ब्रजमण्डलान्तर्गत कामाइ गाँवमें सज्ञानावस्थामें भगवान् श्रीगौरचन्द्रका पादपद्म ध्यान करते-करते हम जैसे पामर व्यक्तियों को तीव्र विरह-सागरमें निमज्जित करते हुए ब्रजधामके लिए प्रस्थान कर गए। वे अत्यन्त

सरल, स्निग्ध एवं भजनानन्दी वैष्णव थे। उनका पूर्वाश्रम पूर्वबंगके यशोहर जिलेमें था। उन्होंने अत्यन्त अल्प वयसमें ही जगद्गुरु श्रील प्रभुपादजीका चरणाश्रय ग्रहण कर प्रगाढ़ निष्ठाके साथ भगवद्भजन करना प्रारम्भ किया। दिनभर तो वे पत्रिका-ग्रन्थादि लेकर उनके प्रचारार्थ कलकत्ता शहरके विभिन्न स्थानोंमें भ्रमण करते एवं रातमें निर्दिष्ट सेवाकार्य समापन कर म्यूनिसिपल आलोकस्तम्भके नीचे बैठकर व्याकरण अध्ययन करते। कठोर परिश्रमसे काव्य, व्याकरण एवं पुराणमें उपाधि प्राप्त की। जगद्गुरु श्रील प्रभुपादजी की इच्छासे वे संस्कृत-विद्यालयके अध्यापक नियुक्त हुए। इसके पश्चात् वे मुद्रण कार्यादि भी करने लगे। उसमें उन्होंने विशेष कुशलता प्राप्त की। ब्रह्मचारी अवस्थामें उनका नाम श्रीगौरदास ब्रह्मचारी था। वे सर्वक्षण भजन-साधन एवं शास्त्र-चर्चा आदि किया करते। जगद्गुरु श्रील प्रभुपादजीके चरणोंमें उनकी प्रगाढ़ निष्ठा एवं प्रीति थी।

परमाराध्ययम श्रीलप्रभुपादजीके अप्रकटके पश्चात् वे ब्रजमण्डलमें आये। वहाँ संन्यास ग्रहण कर कामाइ नामक ग्राममें आकर भजन करने लगे। वे निर्बन्धके साथ संख्या-पूर्वक हरिनाम ग्रहण करते। श्रीमद्भागवत, श्रीमद्गीता एवं समस्त गोस्वामी-ग्रन्थोंका अनुशीलन करते रहते। वे संस्कृतके अपूर्व श्लोक इत्यादि रचना करते।

उनके अप्रकट हो जानेसे आज सारस्वत गौडीय-वैष्णव समाजने एक उज्ज्वल नक्षत्र को खो दिया; उनके पादपद्मोंमें हमारी यही प्रार्थना है कि वे नित्य ब्रजधाममें रहकर हमारे विषय-विदूषित हृदयमें सर्वक्षण ऐसे बलका संचार करें जिससे हम भी उनका भजनादर्श ग्रहण कर शेष मुहूर्त्त तक निष्ठाके साथ हरिभजन कर सके।

गत १० जुलाईको उनके संन्यासी शिष्य श्रीमद् भक्तिप्रदीप तीर्थ महाराजने कामाइमें उनका विरह-महोत्सव सम्पन्न किया है।

श्रीपाद मथुरामोहनदास बाबाजी

गत ३१ ज्येष्ठ, १५ जून मंगलवारके दिन सबेरे प्रायः ४ बजे जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद १०८ श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरके चरणाश्रित श्रीपाद मथुरामोहनदास बाबाजी महाराज गिरिराज श्रीगोवर्द्धनकी परिक्रमा-मार्गमें (दानघाटीमें) स्थित अपने आश्रममें श्रीहरिनाम ग्रहण करते-करते नित्य ब्रजधामको प्रस्थान कर गए। श्रील प्रभुपादजीके आश्रित होकर वे सर्वक्षण हरिनाम एवं सेवामें मग्न रहते। श्रील प्रभुपादजीके अप्रकटके पश्चात् वे श्रीब्रजमण्डलके प्रसिद्ध भजन-स्थान श्रीगोवर्द्धनमें रहकर श्रीहरिनाम ग्रहण एवं श्रीगोस्वामी ग्रन्थोंकी आलोचना करते थे। उनके प्रिय शिष्य श्रीचैतन्यदासने उनका विरह महोत्सव सम्पन्न किया है। उनके अदर्शनसे श्रीसारस्वत गौड़ीय वैष्णव समाजने एक अमूल्य नक्षत्रको खो दिया है। पूजनीय बाबाजीके श्रीचरणोंमें हमारी यही प्रार्थना है कि नित्य ब्रजधाम रहकर वे हमारे दुर्बल हृदयमें बल और शक्तिका संचार कर हरिभजनमें रुचि और आसक्तिका वर्द्धन करें।

—निजस्व संवाददाता

भजनका शत्रु कौन है ?

यह विषय विचार करने पर मैं देख पाता हूँ कि मेरा देह और मन ही मेरे भजन के परम शत्रु हैं। भजनमें अग्रसर होनेके पहले सर्वप्रथम मेरा देह ही मुझे बाधा देता है, मन उसका ईन्धन दिया करता है।

शास्त्र और साधुसज्जन लोग कहा करते हैं कि निष्किञ्चन महाजनोंके चरणोंमें चिर-विक्रीत न होनेसे भजन आरम्भ नहीं होता। किन्तु इस समय मेरे मनका कहना है—साधुओंके चरणोंमें विक्रीत होने पर तुम्हारा मनोवांछित योषित्सङ्ग या इन्द्रियतर्पण किस प्रकार संभव होगा ? साधुके पादपद्ममें सब कुछ समर्पण कर देने पर नरकयन्त्रणाके आधार स्वरूप तुम्हारी स्वाधीनता किस प्रकार रहेगी ?

मनका परामर्श सुनकर मैं तब आनुगत्य धर्म अर्थात् वैष्णव धर्म ग्रहण करनेके बदले कर्मी बनना ही श्रेष्ठ समझता हूँ। देह और मनका परामर्श ग्रहण कर दूसरे मन और देहके परामर्श ग्रहणकारी व्यक्तिके निकट जाकर उपदेश प्रार्थना करता हूँ। वे मुझे कभी 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' मंत्रमें दीक्षित करते हैं, कभी तो ईश्वर-संश्रव चातुर्य-विशिष्ट प्राकृत कर्मजड़-स्मार्त-धर्मका मंत्र कानोंमें प्रदान करते हैं। कभी तो मुझे और भी उदार प्रकाश दिखलानेके लिए प्रतिष्ठाशा-परिपूर्ण देश और समाज सेवा आदि मंत्र दिया करते हैं, कभी तो नशाखोर लम्पटोंके आचरणको 'वैष्णवता' के रूपमें प्रचार करनेकी शिक्षा देते हैं और कभी तो बाहर ही बाहर परोपकार-व्रत या परोपकार-व्रतका भान दिखलाकर मेरी चेतन सत्ताको विरजा जलधिके अतल जलमें डुबाकर मेरे आत्म-विनाश करनेकी इच्छासे कुपरामर्श प्रदान करते हैं। कभी तो मुझे पर्वतादिकी तरह अचेतन या निर्विशिष्ट अवस्थाका लोभ दिखलाते रहते हैं।

मैं देह और मनके द्वारा चालित हूँ। इन्द्रिय-तर्पणपर वस्तु ही मेरी लोभनीय पदवी है। मैं देह और मनके तर्पणको ही हरि-सेवा कहकर प्रचार करना चाहता हूँ। किन्तु कृष्ण सेवामें देह और मनका तर्पण नहीं है। केवल कृष्णेन्द्रिय-तर्पण है—ऐसा सोचकर कपटता कर लोकवञ्चना द्वारा सेवा धर्मसे विरत होता हूँ।

कभी तो कपट-वैष्णव सजकर जिस-जिस वस्तुसे मेरा इन्द्रियतर्पण हो सकता है, तत्तत्वस्तुको स्वीकार कर वैष्णव विद्वेषके उद्देश्यसे अपनेको 'वैष्णव' कहकर प्रचार करता हूँ। किन्तु यथार्थ रूपमें मैं वैष्णव या आनुगत्य धर्मसे बहुत दूर रहता हूँ।

कपट वैष्णव सजकर दीक्षितका अभिनय कर मैं मेरे इन्द्रिय तर्पणमें व्यस्त होता हूँ। श्रौत पथका परित्याग कर मैं मनोधर्मीके भयंकर स्रोतमें गिर पड़ता हूँ।

मैं कलिके वासस्थान-पंचक अर्थात् द्यूत, पान, स्त्री, सूना (जीव-हिंसादि) एवं स्वर्ण इन्हें ही मेरे भजनका सहाय समझकर उन्हें वरण करता हूँ। जो लोग इस कलिपञ्चकमें

अवस्थित हैं, उन्हें वैष्णव कहनेकी धृष्टता करता हूँ। मैं खूब भजनानन्दी हूँ, सर्वदा मेरा चित्त इतना भजन-राज्यमें विचरण करता है कि समय-समय पर मुझे देहस्मृति लानेके लिए या अन्तर्दशासे बाह्य-दशामें आनेके लिए ताश-पाशाकी आवश्यकता होती है, पान-तम्बाकू आदि मेरे भजनके उत्तेजक या उत्साहवर्द्धनकारी समझकर उनका आश्रय ग्रहण करता हूँ। कभी तो भाव घर में चोरी कर कहा करता हूँ कि पान, तम्बाकू, चाय आदि सेवन न करने पर पेट में वायुका विकार होता है और मलेरिया आक्रमण करता है। इसलिए भजनमें बहुत असुविधा हो पड़ती है। मैं दवाईके रूपमें ही तम्बाकू, चाय, अफीम आदि ग्रहण करता हूँ, भोग-विलासके लिए नहीं। कभी रागानुग भजन की छलना कर कहता हूँ कि शास्त्रके आदेश आदि विधि-मार्गीय व्यक्तियोंके लिए है। इस प्रकार आत्मवंचना और लोकवंचना करता रहता हूँ। वैष्णव लोग जब बुद्धू हैं, तब प्रेम की छलनासे कपटता कर रोते रोते वैष्णवों को ठग सकता हूँ। कभी सोचता हूँ कि साधुसङ्गमें रहनेसे वे मुझे कलिके पंच-स्थानसे उद्धार करेंगे। इसलिए मैं उनके सङ्ग नहीं रहूँगा। अर्थकी लालसासे वैष्णव विद्वेषके उद्देश्यसे भक्तका भान कर तरह-तरहकी कपटता करता हूँ। जड़ भोगपर मन मेरा गुरु है। अतएव मनका ही परामर्श ग्रहण करता हूँ। तब मन कहता है—"तुमने उत्तम प्रस्ताव किया है। घरमें जाकर युक्त वैराग्य अवलम्बन कर अन्तर्निष्ठा और बाहरमें लोकव्यवहार करो। मर्कट वैराग्य अनुचित है। योषित्सङ्ग या स्त्रैणभाव वृद्धि होने पर ही कृष्ण भजन हो पड़ेगा।

श्रील दास गोस्वामी प्रभुके प्रति श्रीमन्महाप्रभुके उपदेशका कदर्थ कर इन्द्रिय तर्पणको ही युक्तवैराग्य समझता हूँ, गृहव्रत धर्मको ही गृहस्थ-धर्म मानता हूँ। मायाके संसारको कृष्णका संसार समझकर इन्द्रिय सेवाको ही कृष्णसेवाके रूपमें ग्रहण करता हूँ। उसे प्रचार करनेके लिए वैष्णव-लेखक हो पड़ता हूं।

Devils can quote Scriptures (शैतान भी शास्त्र वाक्य उद्धार कर अपना मत समर्थन कर सकता है)—इसलिए मैं नाना प्रकारके तामसिक एवं राजसिक शास्त्रों से अपने इन्द्रिय तर्पणके अनुकूल वचन उद्धार कर इन्द्रियसेवाको चरितार्थ करनेका सुयोग ढूँढ़ लेता हूँ।

मनोधर्मके पल्लेमें पड़कर कभी तो प्राकृत सहजिया हो पड़ता हूँ। अपने असंख्य दोषोंको छिपानेके लिए धर्मके नाम पर व्यभिचार या कपटता आदि असंख्य रहने पर भी उन्हें प्रकाश नहीं करता। 'तृणादपि सुनीचेन' श्लोकका कदर्थ कर उसके आश्रय में अपने आपको छिपा लेता हूँ। अवैष्णवता या कपटता प्रकाश करनेको 'परचर्चा' या 'परनिन्दा' कहता हूँ। उस समय खूब 'तृणादपि' सुनीचता दिखलाता हूँ, किन्तु शुद्ध वैष्णवोंकी निन्दा करनेमें कभी पीछे नहीं रहता। मेरी भोगोन्मुखी इन्द्रियज्ञान द्वारा शुद्ध वैष्णवोंके अप्राकृत और अचिन्त्य चेष्टा में दोष ढूँढता हूँ एवं अक्षज ज्ञान द्वारा उनकी अचिन्त्य चेष्टाकी समालोचना करनेके लिए शतजिह्वा धारण करता हूँ; उस समय 'तृणादपि सुनीचेन' श्लोक याद नहीं रहता। इस

प्रकार वैष्णवापराधके भयंकर गर्त्त में गिर पड़ता हूँ।

मेरा दुष्ट मन ही मेरा गुरु है। यदि मैं अपने मनोधर्मको गुरु न बनाकर निष्किंचन महाभागवत शुद्ध वैष्णवोंके पदतलमें बिक जाता एवं प्रतिमुहूर्त्त उन्हें मेरा एकमात्र कर्णधार जानता, तो मेरे देहरूपी नाव द्वारा भगवत्कृपानुकूल वायु अति शीघ्र ही वैकुण्ठ राज्यकी ओर मुझे ले जाता।

मुझ जैसा हरिकथा विमुख, प्रकृत मंगल से विमुख और कोई व्यक्ति नहीं है। ऐसी अवस्थामें मेरी कौन रक्षा करेगा? एकमात्र नित्यानन्द स्वरूप अधोक्षज वस्तुके प्रकाश-विग्रहरूप श्रीगुरुदेव ही ऐसे सामर्थ्यवान् व्यक्ति हैं। वे मेरे चित्तके समस्त कलुष नाश करनेवाले, मनोधर्मके असंख्य दुष्ट अभिप्राय छेदन करनेवाले एवं संसारकी आसक्तिका निर्मूल करनेवाले हैं। भगवानसे मेरी यही प्रार्थना है कि मैं उन नित्यानन्द स्वरूप गुरु-देवके श्रीपादपद्मों सम्पूर्ण रूपसे बिक सकूँ।

(साप्ताहिक गौड़ीयसे उद्धृत)

श्री चैतन्य-शिक्षामृत

सप्तम-वृष्टि—चतुर्थ धारा, प्रीत भक्तिरस-विचार

प्रीत-भक्ति-रसको अनेक व्यक्ति ही दास्य रस कहते हैं। किन्तु प्रीत-भक्ति-रस दो प्रकारका है— (१) संभ्रमगत प्रीतरस और (२) गौरवगत प्रीतरस[1]। संभ्रमगत प्रीत रसको ही दास्य कहा जा सकता है। गौरवगत प्रीतरसको गौरव--प्रीत-भक्तिरस कहा जा सकता है, दास्य नहीं कहा जा सकता। संभ्रमशून्य उपासना या रसपद्धति साधारण व्यक्तियोंका आलोचनीय विषय नहीं है। बहुत भाग्यसे जिन सभी जीवोंकी कृष्णरति संभ्रमशून्यता, विश्रम्भमयता, अनुकम्पात्मता और केवल-कामात्मता प्राप्त करती है, उनके

१. आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम् । नीता चेतसि भक्तानां प्रीतिभक्तिरसो मतः ॥
अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वाद्वयस्यतः । भिद्यते संभ्रमप्रीतो गौरवप्रीतो इत्यपि ॥
दासाभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीति संभ्रमोत्तरा ।

अत्र आलम्बना—

हरिश्च तस्य दासश्च ज्ञेया आलम्बना इह । आलम्बनोऽस्मिन् द्विभुजः कृष्णो गोकुलवासिषु ॥
अन्यत्र द्विभुजः क्वापि कुत्राप्येष चतुर्भुजः । ब्रह्मांडकोटिधामैकरोमकूपः कृपाम्बुधिः ॥
अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्वसिद्धिनिषेवितः । अवतारवलीबीजं सदात्मारामहृद् गुणः ॥
ईश्वरः परमाराध्यः सर्वज्ञः सुदृढव्रतः । समृद्धिमान् क्षमाशीलः शरणागतपालकः ॥
दक्षिणः सत्यवचनो दक्षः सर्वशुभङ्करः । प्रतापी धार्मिकः शास्त्रश्चभुर्भक्तसुहृत्तमः ॥
वदान्यस्तेजसायुक्तः कृतज्ञः कीर्त्तिसंश्रयः । वरियान् बलवान् प्रेमवश्य इत्यादिभिर्गुणैः ॥
युतश्चतुर्विधेष्वेष दासेष्वालम्बनो हरिः । (भक्तिरसामृतसिन्धु प्र० द्वितीय लहरी)

लिए तत्तत् विषयक अनेक शास्त्र हैं। विशेषतः उस अवस्थाके व्यक्ति शास्त्रकी अपेक्षा नहीं करते। उनका स्वभाव ही उनका दिव्य शास्त्र है। यद्यपि जात-रति पुरुषमात्र ही शास्त्रकी अपेक्षा नहीं करते, तथापि साधारण व्यक्तियोंको उनका पथ दिखलानेके लिए जिस रसतत्त्वकी व्याख्या की गई है, उसमें भी संभ्रमगत रतितक ही आलोचनीय है। उसके आगे कहना हमारे इस ग्रन्थके उद्देश्यानुसार उचित नहीं जान पड़ता। अतएव हम लोग केवल दास्य रस को छोड़कर आगे विचार नहीं करेंगे। प्रीत-भक्ति-रसमें निर्दिष्ट स्वरूपगत भगवत्तत्त्वकी विषयता स्वीकार की जा सकती है। स्वरूपगत भगवत्तत्त्व (Personality of God) दो प्रकार है—ऐश्वर्यमय और माधुर्यमय। इस स्थलमें यहां तक ही कहा जायगा कि श्रीकृष्णस्वरूपको छोड़कर परम माधुर्यस्वरूप वैज्ञानिकों और अन्यस्वरूपमें लक्षित नहीं होता। श्रीकृष्णस्वरूपमें समस्त ऐश्वर्य नित्य वर्त्तमान हैं। किन्तु माधुर्यकी प्रबलताके कारण ऐश्वर्य लुब्धायित (आच्छादित) प्राय है, आवश्यकतानुसार माधुर्य स्वरूपको अविरोधी रूपसे समय समयमें कार्य करता है। इस तत्त्वका विशेषरूपसे विचार करने की इच्छा हो, तो श्रीजीव गोस्वामीकृत 'षट्सन्दर्भ' एवं मेरेद्वारा रचित 'श्रीकृष्णसंहिता' पाठ करना आवश्यक है। व्रजनाथका भाव जिस तरह माधुर्यमय है, उस तरह और कहीं नहीं है। अतएव शुद्ध दास्यमें व्रजगतदास्य ही हमारा विचारणीय विषय है। परम माधुर्यमय श्रीकृष्णका दास्य भाव उदित होने पर जीव अपनेको कृष्णका अनुग्राह्य समझकर अभिमान करते हैं। उसमें कृष्णदासाभिमान रूप संभ्रमोत्तरा प्रीति लक्षित होती है। दास्य रसकी विवृति इस प्रकार है—

(क) **विषयरूप आलम्बन**—जिनके एक-एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड अवस्थित हैं, जो कृपा समुद्र हैं, अविचिन्त्य महाशक्तिसम्पन्न हैं, सर्वप्रकार सिद्धियाँ जिनकी सेवा करती हैं, जो समस्त अवतारावलीके बीजस्वरूप हैं, जो सर्वप्रकारके आत्माराम व्यक्तियोंका चित्त आकर्षण करते हैं, जो सभी ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, परमाढ्य, सर्वकर्मदक्ष, सर्वज्ञ, सुदृढ़व्रत, क्षमाशील, शरणागत-पालक, दक्षिण, सत्यस्वरूप, सर्वशुभंकर, प्रतापी, शुद्ध, न्यायशील, भक्त-सुहृद्, वदान्य, सर्वतेजोमय सर्वबलशाली, परम कीर्त्तिमान, कृतज्ञ एवं प्रेमवश्य श्रीकृष्णस्वरूप परात्पर वस्तु हैं वे ही इस रसके विषयरूप आलम्बन हैं।

(ख) **आश्रयरूप आलम्बन**—(१) अधिकृत, (२) आश्रित, (३) पारिषद और (४) अनुग—ये चार प्रकारके दास[1] ही इस रसके आश्रयरूप आलम्बन हैं; ये सभी

---

१. चतुर्द्धामी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः। ब्रह्मशंकरशक्राद्याः प्रोक्ता अधिकृता बुधैः॥
ते शरण्या ज्ञानिचराः सेवानिष्ठास्त्रिधाश्रिताः। शरण्याः कालियजरासन्धबकनृपादयः॥
ये मुमुक्षां परित्यज्य हरिमेव समाश्रिताः। शौनकप्रमुखास्ते तु प्रोक्ता ज्ञानिचरा बुधैः॥
मूलनेता भजनासक्ताः सेवानिष्ठा इतीरिताः। चन्द्रध्वजो हैहयो बहुलाश्वस्तथा नृपाः॥
इक्ष्वाकुः श्रुतदेवश्च पुंडरीकादयश्च ते। उद्धवो दारुको जैत्रः श्रुतदेवश्च शत्रुजित्॥
नन्दोपनन्दभद्राद्याः पार्षदा यदुपत्तने। कौरवेषु तथा भीष्मपरीक्षिद्विदुरादयः॥

रसोपयोगी जीव हैं।

१. ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि दास लोग श्रीकृष्ण-कृपासे अधिकार प्राप्त कर "अधिकृत-दास" हुए हैं।

२. शरण्य, ज्ञानिचर और सेवानिष्ठ—ये तीन प्रकारके आश्रित दास हैं। कालीय, जरासन्ध और कारागार-बद्ध सभी राजा "ज्ञानिचर आश्रित दास" हुए हैं। चन्द्रध्वज, हैहय, बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव, पुण्डरीक आदि प्रथम कालमें भजनासक्त होनेके कारण "सेवानिष्ठ आश्रित दास" हैं।

३. उद्धव, दारुक, नन्द, और भद्रक आदि "पारिषद दास" हैं। वे लोग समय समय पर परिचर्या किया करते हैं।

४. अनुग दास 'पुरस्थ' और 'व्रजस्थ' भेदसे दो प्रकारके हैं। ये लोग सर्वदा परिचर्या किया करते हैं। सुचन्द्र, मण्डन, स्तम्भ सुतन्वा आदि पुरस्थ दास हैं। रक्तक,पत्रक पत्री, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रताल, सुविलास, प्रेमकन्द, मरन्द, आसन्द, चन्द्रहास, पयोद, बकुल, रसद, शारद, आदि व्रजस्थ अनुग-दास हैं।

सभी दास लोग प्रश्रित, निदेशवर्त्ती, विश्वस्त और प्रभुताज्ञान द्वारा नम्रबुद्धि हैं। ये लोग कोई धुम्यदास, कोई घोरदास, कोई वीरदास हैं। पूर्वोक्त चार प्रकारके दासोंमें आश्रित, पारिषद और अनुग दास कोई नित्यसिद्ध, कोई सिद्ध, और कोई साधक हैं।

(३) **उद्दीपन**[1] — कृष्णका मुरली शब्द, शृंग-ध्वनि, सहास्यावलोक, गुणोत्कर्ष-श्रवण, पदचिन्ह, नूतन मेघ, अङ्गसौरभ—ये साधारण उद्दीपन हैं, कृष्णानुग्रह हैं। चरण-तुलसी, प्रसादाम्र, शरणामृत—कृष्ण भक्तोंके विशेष उद्दीपन हैं।

दास्यरसका विभाव वर्णित हुआ। इस रसके अनुभावके बारेमें यही कहना है कि साधारणतः जो तेरह अनुभाव हैं, उनको छोड़कर दास भक्तोंके निम्नलिखित कुछ अनुभाव[2] लक्षित होते हैं—

एतेषां प्रवरः श्रीमानुद्धवः प्रेमविक्लवः। सर्वदा परिचर्यासु प्रभोरसक्तचेतसः॥
पुरस्थाश्च व्रजस्थाश्चेत्युच्यते अनुगा। सुचन्द्रो मण्डनः स्तम्भः सुतवान्वाद्याः पुरानुगाः॥
एषां पार्षदवत्प्रायो रूपसङ्कुरणादयः। रक्तकः पत्रकः पत्री मधुकण्ठो मधुव्रतः॥
रसालः सुविलासश्च प्रेमकन्दो मरन्दकः॥ आनन्दश्चन्द्रहासश्च पयोदो बकुलस्तथा॥
रसदः शारदाद्याश्च व्रजस्था अनुगा मताः। व्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान् रक्तको मतः॥
धुर्यो धीरश्च वीरश्च त्रिधा पारिषदादिकः॥ एतेषु तस्य दासेषु त्रिविधेश्वाश्रितादिषु॥
नित्यसिद्धाश्च सिद्धाश्च साधकाः। परिकीर्तिताः॥ अनुग्रहस्य संप्राप्तिस्तस्यांघ्रिरजसां तथा॥
भुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्भक्तसङ्गतिः। इत्यादयो विभावाः स्युरेष्वसाधारणा मता॥

(१) उद्दीपनाः—

मुरलीशृङ्गयोः स्वनः स्मितपूर्वावलोकनम्। गुणोत्कर्षश्रुतिः पद्मपदाङ्कनवनीरदाः॥
तदङ्गसौरभाद्यास्तु सर्वैः साधारणा मताः॥

(२) अनुभावाः—

सर्वतः स्वनियोगानामाविष्कारेण परिग्रहः। ईर्षालेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने॥
तन्निष्ठताद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रियाः।

(१) सर्व प्रकारसे आज्ञापालन (२) कृष्ण-दासोंके साथ मित्रता (३) भगवत् परिचर्यामें ईर्ष्याशून्यता (४) प्रीतिमात्र निष्ठा।

दास्य रसमें स्तम्भादि आठ प्रकारके सात्त्विक विकार[1] ही देखे जाते हैं।। इसमें हर्ष, गर्व, स्मृति, निर्वेद, विषन्नता, दैन्य, चिन्ता, शंका, मति, औत्सुक्य, चापल्य, वितर्क, आवेग, लज्जा, जड़ता, मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, क्लम, व्याधि एवंमृति ये व्यभिचार भाव[2] कार्य करते हैं।

इस रसमें प्रभुताज्ञान निमित्त संभ्रम, कम्प और चित्तमें आदर, ये प्रेमके सहित ऐक्यता प्राप्त होकर स्थायी भाव रूपसे कार्य करते हैं। आश्रित लोगोंके लिए पूर्वोक्त क्रमानुसारसे रति उत्पन्न होती है। पारिषद और अनुग लोगोंके लिए सस्कार ही रतिका उत्तेजक है। इस दास्य प्रीतिमें प्रेम, स्नेह और राग तक देखा जाता है। सभी रस उत्तरोत्तर उच्च, उत्कृष्ट और चमत्कार हैं। यदि साधकका लोभ हो, सिद्ध कालमें उनकी उसी रसमें नित्य स्थिति प्राप्त होती है। रसगत भक्तिको रागात्मिका भक्ति कहा जा सकता है। साधनाङ्गमें जो रागानुगा भक्तिका परिचय है, वह रागात्मिका भक्तिका अनुकरण है। रागानुगा भक्त रसस्थ सिद्धभक्त लोगोंका चरित्र और व्यवहार अनुकरण करेंगे। जो रस भक्तोंका जीवन है एवं उन्हें उपादेय जान पड़ता है, वही उनका अनुकरणीय है। सिद्ध समयमें उसी रूप जीवन प्राप्त करेंगे।

संभ्रमप्रीति यहीं तक है। देहसम्बन्धीय मानद्वारा जो गुरुबुद्धि होती है, उसीका नाम गौरव है। तन्मयी लाल्य प्रीतिको गौरवप्रीति कहते हैं। यह भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें विचारित हुई है। अतएव इस विषय का यहाँ अधिक विस्तार नहीं किया गया।

(१) स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः सर्वे प्रीतादिजितये मताः।

(२) उद्भास्वराः पुरोक्ता ये तथास्य सुहृदादरः। विरागाद्याश्च ये शीताः प्रोक्ताः साधारणास्तु ते॥
हर्षो गर्वो धृतिश्चात्र निर्वेदोऽथ विषन्नता। दैन्यं चिन्ता स्मृतिः शंका मतिरौत्सुक्यचापले॥
वितर्कावेगह्रीजाड्यमोहोन्मादावहित्थकाः बोधः। स्वप्न क्लमो व्याधिर्मतिश्च व्यभिचारिणः॥
इतरेषां मदादीनां नातिपोषकता भवेत्। बोधे नयः स्मृर्न्यस्यन्ता अयोगे तु क्लमादयः॥
उभयत्र परे शेष निर्वेदाद्याः सताः मताः।

(४) स्थायी भावाः—
संभ्रमः प्रभुताज्ञानात् कम्पश्चेतसि सादरः। अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते॥
एषारसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः। आश्रितादेः पुरोक्तः प्रकारो रतिजन्मनि॥
तत्र पारिषदादेस्तु हेतुः संस्कार एव हि। संस्कारोद्बोधकास्तस्य दर्शनश्रवणादयः।
एषा तु संभ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम्। वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेहस्ततोः राग इति त्रिधा।
अथ प्रेमा—
हास शंकाच्युता बद्धमूला प्रमेयमुच्यते। तस्यानुभावाः कथितास्तत्र व्यसनितादयः॥
अथ रागः—
स्नेहः स रागो येन स्यात् सुखं दुःखमपि स्फुटम्। तत्सम्बन्धलवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्यैरपि॥
गौरव-प्रीतिलक्षणानि भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे द्वितीयलहर्यां द्रष्टव्यानि)